# रेणु की राजनीति

प्रेम कुमार मणि

फणीश्वरनाथ रेणु (1921–1977) बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। साहित्यकार होने के साथ वे स्वतंत्रता-सेनानी और राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी थे। बल्कि, राजनीतिक कार्यकर्त्ता वे पहले थे, लेखक बाद में बने। उनके इन दोनों रूपों में एक गहरा अंतर्संबंध है। इसे जाने बिना हम रेणु-साहित्य का भी सम्यक विवेचन-अध्ययन नहीं कर सकते। दरअसल, रेणु-साहित्य के सम्यक अध्ययन हेतु उनकी राजनीति का अध्ययन आवश्यक है। जन्म-शताब्दी के अवसर पर एक स्मरण।

## I

रेणु का जन्म गाँव औराही-हिंगना अब बिहार के अररिया ज़िले में स्थित है। एक समय यह संयुक्त पूर्णिया ज़िले का हिस्सा था। यह कोई अचानक से मैला-आँचल नहीं बना था। ऐसा होने की लम्बी और सतत प्रक्रिया थी, मज़बूत कारण थे। रेणु के शब्दों में यह पूर्णिया ज़िला देशी-विदेशी ज़मींदारों का गढ़ था। अंग्रेज़ ज़मींदारों के नाम पर कई गाँव और क़स्बे बने हुए हैं। फ़ोर्ब्स साहब के नाम पर फ़ोर्ब्सगंज (फारबिसगंज), एक साहब की मेम के नाम पर मेरीगंज। कई राजे, दर्जनों 'कुमार' और बहुत से नवाबों के गढ़ और हवेलियाँ आज भी मौजूद हैं। ज़िले में ऐसे भी बड़े-बड़े किसान हैं

जयप्रकाश नारायण ने 'समर स्कूल ऑफ़ पॉलिटिक्स 'का आयोजन किया था। एक साक्षात्कार में रेणु ने इसकी विस्तार से चर्चा की है। 'उन दिनों मैं बनारस में पढ़ता था। पटना से प्रकाशित होने वाली बिहार सोशलिस्ट पार्टी की (रामबृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित) साप्ताहिक पत्रिका *जनता* में ऐसी कार्रवाइयाँ विस्तारपूर्वक छपती रहती थीं। जयप्रकाशजी उस स्कूल के प्रिंसिपल थे। एक-डेढ़ महीने का वह प्रशिक्षण शिविर अपने ढंग का अकेला था। कमलादेवी चट्टोपाध्याय, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, नरेंद्रदेव, मेहर अली, अशोक मेहता जैसे लोगों ने कक्षाएँ ली थीं। और इसका मेरे जैसे लोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा था। यानी समाजवाद और बिहार सोशलिस्ट पार्टी के प्रति अधिक आस्थावान हो गया था। मैं उसमें चाह कर भी सम्मिलित नहीं हो सका था। किंतु बेनीपुरी के सम्पादन और लेखन की कृपा से दूर रह कर भी इसमें सम्मिलित होने जैसा लाभ हुआ।'

जिनके पास दो-दो हवाई जहाज़ हैं और दूसरी ओर पचहत्तर प्रतिशत भूमिहीन अभी भी बड़े, छोटे और मझोले किसानों द्वारा शोषित होने के लिए मौजूद हैं।[1] यह इलाक़ा कई और तरह के पिछड़ेपन से भी ग्रस्त रहा है। हर वर्ष भयानक बाढ़ लाने वाली कोसी का यह इलाक़ा ऐतिहासिक रूप से अभिशप्त और त्रस्त है। मलेरिया और हैजा जैसी बीमारियाँ इस इलाक़े के हज़ारों लोगों को हर साल सताती रही थीं। जाने कितने लोग हर साल असमय काल-कवलित होते रहे थे। इसकी पीड़ा और पिछड़ेपन को समझना आसान नहीं है। इसी पिछड़ेपन की कहानी रेणु ने कई रूपों में लिखी है। किसानों, भूमिहीनों और मेहनतकशों के इस दैन्य व पीड़ा को समझना राजनीतिक चेतना के अभाव में मुश्किल हो जाता है। इसलिए जिस लेखक के पास इन सूचनाओं और राजनीतिक समझ का अभाव होगा उनके लिए ऐसे इलाक़ों का साहित्यिक चित्रण भी मुश्किल होगा, और यदि चित्रण हुआ भी तो वह निष्प्राण होगा।

रेणु का परिवार किसान था। जाति के हिसाब से उनका कुल-परिवार ऐसे सामाजिक समूह से था, जिन्हें बिहार में अत्यंत पिछड़ा कहा जाता है। रेणु-परिवार के पास यदि ज़मीन-जायदाद नहीं होती, तो पारम्परिक रीति-नीति में इनके परिवार के लोगों को दूसरे के घरों में चाकरी या बट-बेगारी करनी होती। लेकिन रेणु परिवार की आर्थिक स्थिति अन्य परिवारों से थोड़ी बेहतर थी। ग्रामीण पृष्ठभूमि में किसी परिवार की आर्थिक स्थिति मज़बूत होने का अर्थ है उस परिवार के पास यथेष्ट भूमि का होना। रेणु का परिवार भूमिहीन नहीं, भूमिधर था। इनके पिता शिलानाथ मण्डल जागरूक इंसान थे। स्वतंत्रता आंदोलन में उनकी दिलचस्पी थी और ज़िला स्तर पर उन्हें जाना जाता था। कई तरह की पत्रिकाएँ उनके यहाँ आती थीं, जिनकी चर्चा रेणु ने अपने संस्मरणों में की है। जब वे पाँचवीं जमात में ही थे, उनके घर पण्डित सुंदरलाल की अंग्रेज़ों द्वारा प्रतिबंधित किताब *भारत में अंग्रेजी राज* आयी। फिर *चाँद* पत्रिका का फाँसी अंक भी उन्होंने घर में देखा। इन बग़ावती किताबों के लिए उनके घर की पुलिस द्वारा तलाशी भी ली गयी और कहा जाता है कि उन्हें बचाने में बालक रेणु ने भी कुछ 'करतब' दिखाए थे। यह सब उनका राजनीतिक प्रशिक्षण ही था।[2]

---

[1] मधुकर सिंह के साथ फणीश्वरनाथ रेणु का साक्षात्कार; *सारिका*, मार्च, 1971, *रेणु रचनावली* (1995), 4/421, प्रथम संस्करण.

[2] 'झूठ जो सच है', फणीश्वरनाथ रेणु का संस्मरण-लेख, *रेणु रचनावली*, 5/225. इस लेख में रेणु ने लिखा है, 'पिताजी किसान थे और इलाक़े के स्वराज आंदोलन के प्रमुख कार्यकर्त्ता ! कड़ी पहनते थे, घर में चरखा चलता था,'तिलक स्वराज फ़ंड' वसूलते थे और दुनिया भर की पत्र-पत्रिकाएँ मँगाया करते थे.'

उन्हें पढ़ने के लिए पहले तो फ़ारबिसगंज के 'ली अकादेमी' में भेजा गया, जो एक हाई स्कूल था, लेकिन 1936 में वे विराटनगर स्थित आदर्श स्कूल में चले गये जिसका संचालन नेपाल का सुप्रसिद्ध कोइराला परिवार करता था। एक नाटकीय घटनाक्रम में रेणु का जुड़ाव कोइराला परिवार से हुआ और उसी परिवार में रह कर उनकी पढ़ाई भी होने लगी। रेणु के व्यक्तित्व में जो एक आभिजात्य अंदाज़ है उसकी पृष्ठभूमि इसी कोइराला परिवार से हासिल हुई प्रतीत होती है। कोइराला परिवार राजनीतिक परिवार भी था, इसलिए स्वाभाविक है, पिता से प्राप्त उनके राजनीतिक संस्कारों का परिष्कार इस परिवार में हुआ। 1937 में रेणु ने हाई स्कूल किया और इसी वर्ष आगे की पढ़ाई के लिए बनारस आ गये, जहाँ बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में उन्होंने दाख़िला लिया। इंटर की पढ़ाई यहीं से हुई। बनारस में वे 1940 तक रहे।

विराट नगर और बनारस ने रेणु के मानस का किस रूप में निर्माण किया, इसका अध्ययन आज भी अपेक्षित है। यह पूरा समय राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अत्यंत घटनापूर्ण है। कहा जाता रहा है, और बहुत हद तक यह सच भी है कि तीस का दशक भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण दशक था। इसका आरम्भ ही युवा भागीदारी से होता है। दिसम्बर, 1929 में मात्र चालीस साल के जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस अध्यक्ष हो जाते हैं। 1931 में भगत सिंह और उनके साथियों को फाँसी दी जाती है। 1934 में युवा जयप्रकाश नारायण की पहल से कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन होता है। 1936 में लखनऊ में प्रगतिशील लेखक संघ का गठन होता है। उत्तर प्रदेश के अवध और बिहार के मगध इलाक़े में इन्हीं दिनों किसान आंदोलन होते हैं। 1935 में व्यवस्थित रूप से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन होता है। 1938 में कांग्रेस के भीतर वाम और दक्षिण (सुभाष बोस और पट्टाभि सीतारमय्या) की टक्कर होती है, जिसमें वामपक्ष की जीत होती है। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व-युद्ध का वातावरण बनता है। यूरोप में फ़ासीवादी राजनीति का उभार होता है; और अंततः सितम्बर 1939 में दूसरा विश्व-युद्ध शुरू हो जाता है।

इस दरम्यान युवा रेणु ने किस तरह इस पूरे घटनाक्रम को आत्मसात् किया, इसका अध्ययन दिलचस्प हो सकता है। 1938 में जब वे बनारस में ही थे, उनके बिहार में समाजवादी जयप्रकाश नारायण ने 'समर स्कूल ऑफ़ पॉलिटिक्स' का आयोजन किया था। एक साक्षात्कार में रेणु ने इसकी विस्तार से चर्चा की है। 'उन दिनों मैं बनारस में पढ़ता था। पटना से प्रकाशित होने वाली बिहार सोशलिस्ट पार्टी की (रामबृक्ष बेनीपुरी द्वारा सम्पादित ) साप्ताहिक पत्रिका *जनता* में ऐसी कार्रवाइयाँ विस्तारपूर्वक छपती रहती थीं। जयप्रकाशजी उस स्कूल के प्रिंसिपल थे। एक-डेढ़ महीने का वह प्रशिक्षण शिविर अपने ढंग का अकेला था। कमलादेवी चट्टोपाध्याय, मीनू मसानी, अच्युत पटवर्धन, नरेंद्रदेव, मेहर अली, अशोक मेहता जैसे लोगों ने कक्षाएँ ली थीं। और इसका मेरे जैसे लोगों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा था। यानी समाजवाद और बिहार सोशलिस्ट पार्टी के प्रति अधिक आस्थावान हो गया था। मैं उसमें चाह कर भी सम्मिलित नहीं हो सका था। किंतु बेनीपुरी के सम्पादन और लेखन की कृपा से दूर रह कर भी इसमें सम्मिलित होने जैसा लाभ हुआ।'[3]

1940 में विश्वविद्यालय की पढ़ाई से विरक्त हो रेणु घर आ जाते हैं और अपने इलाक़े में किसान राजनीति को बल देने की कोशिश करते हैं। स्पष्टतः वे समाजवादी सक्रियता से जुड़ते हैं, जिसका उनके प्रांत बिहार में बोलबाला था और जिसकी चर्चा ऊपर में रेणु ने स्वयं की है। सोशलिस्टों ने राजनीतिक आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से पृथक् नहीं किया था। अंग्रेजों की औपनिवेशिक ग़ुलामी से देश की आज़ादी के लिए उनका संघर्ष अहम था, लेकिन उनका लक्ष्य समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति थी, जिसमें उत्पादन के समस्त साधनों पर सामाजिक मिल्कियत मुख्य स्वप्न था। रेणु की

[3] *रेणु रचनावली*, 4/419.

राजनीति यही थी। 1942 में वे गिरफ़्तार किये जाते हैं और लगभग डेढ़ वर्ष जेल में रहने के बाद बीमारी की हालत में रिहा किये जाते हैं। प्लूरुसि का इलाज पटना मेडिकल कॉलेज अस्पताल में होता है, जहाँ लतिकाजी से उनका परिचय होता है। भारतीय राजनीति में यह कितना घटनापूर्ण समय है, कहने की ज़रूरत नहीं। लेकिन रेणु के जीवन का सूक्ष्मतापूर्ण अध्ययन हमें बताता है कि रेणु राजनीति और साहित्य के बीच तेज़ी से पेंडुलम की तरह डोल रहे हैं। उनकी कहानियाँ 1944 से छपनी शुरू हो जाती हैं। लेकिन रेणु भारत और नेपाल की राजनीतिक लड़ाई में बराबर सक्रिय दिखते हैं। वह तेज़ी से इस पूरे संघर्ष, उसकी बुनावट, उसकी विशिष्टताओं और यहाँ तक कि मिथ्याचारों को भी आत्मसात् करते हैं, समझते हैं।

## II

जैसा कि सब जानते हैं, समाजवादियों ने देश की आज़ादी को झूठा मान कर इसके जश्न में हिस्सा नहीं लिया था। 1948 में ही इन लोगों ने कांग्रेस पार्टी से अपने को अलग कर लिया था। 1934 से अलगाव तक ये लोग कांग्रेस के भीतर ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सीएसपी) बना कर काम कर रहे थे। लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में इन्हें कांग्रेस से बाहर आना आवश्यक लगा। इन सब का मानना था कि कांग्रेस दक्षिणपंथी शक्तियों का जमावड़ा है और चूँकि राष्ट्रीय आज़ादी हासिल कर ली गयी है, उनके साथ होने का अब कोई मतलब नहीं है। समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए समाजवादियों को अपने संघर्ष अब तेज़ करने होंगे। इसलिए आवश्यक है कि नयी परिस्थितियों में वे एक अलग राजनीतिक दल के रूप में संगठित हों।[4] रेणु अपने इलाक़े पूर्णिया ज़िले में इसी समाजवादी पार्टी के कार्यकर्त्ता बनते हैं। उस वक़्त के तमाम समाजवादी जवाहरलाल नेहरू के प्रति एक मोह और मैत्री भाव रखते थे। लेकिन अब जब कि नेहरू प्रधानमंत्री हो गये थे, तेज़ी से समाजवादियों का उनसे मोहभंग हो रहा था। व्यक्तिगत रूप से रेणु में भी यह मोह और उसका भंग आप देख सकते हैं। रेणु ने एक एकांकी लिखी है *उत्तर नेहरू चरितम्*।[5] इसमें व्यंग्यपूर्ण लहज़े में रेणु ने नेहरू के कई रूपों को एक साथ देखने की कोशिश की है। यहाँ 1930 का वीर जवाहर है, किसानों का सबसे बड़ा हितैषी नेहरू है, कॉमरेड नेहरू है, ब्लैक मार्केटियरों को फाँसी पर चढ़ाने की मंशा रखने वाला नेहरू है, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने वाला नेहरू है और अंतत: प्रधानमंत्री नेहरू है। यह कटु व्यंग्य राजनीति की गहराइयों में पैठ रखने वाला ही लिख सकता है। रेणु इस रूप में दक्ष थे। यह एकांकी उनकी सुलझी राजनीतिक समझ को हमारे सामने रखता है। इसे नागार्जुन की एक कविता 'तुम रह जाते दस साल और', जो उन्होंने नेहरू के अवसान पर लिखी थी, के साथ रख कर देखने पर दो रचनाकारों की राजनीतिक समझदारियों का तुलनात्मक अर्थ-भेद भी निकल कर आ सकता है।

नेहरू से लोगों का मोहभंग अनेक स्तर पर था। रेणु एक संवेदनशील लेखक थे, इसलिए ज़ाहिर है इनके मोहभंग का अंदाज़ कुछ अलग होगा। वे नेहरू को पूरी तरह छोड़ नहीं सकते थे। आख़िरी समय तक उन्होंने नेहरू को अपने से चिपकाए रखा। रेणु की बैठक में केवल दो तस्वीरें थीं। एक नेहरू की और दूसरे बंगाल के नेता विधानचंद्र राय की।[6] नेहरू के चित्र का औचित्य तो समझ में

---

[4] आचार्य नरेंद्र देव (2002) : 229.

[5] *उत्तर नेहरू चरितम,* रेणु लिखित एक एकांकी, *रेणु रचनावली,* भाग-5 में संकलित : 298.

[6] बांग्ला कवि समीर राय चौधरी का फणीश्वरनाथ रेणु से साक्षात्कार, 'एखन सकलेर दृष्टि', यह बांग्ला मासिक *कृतिवास* (सं. सुनील गंगोपाध्याय) में प्रकाशित है, दिसम्बर, 1974, विवरण यूँ है : 'रेणु जी के फ़्लैट में कुल दो बेडरूम हैं, अलग बाथरूम और रसोई और एक बरामदा. बरामदे में एक कोने में बाहर का दरवाज़ा. उस दरवाज़े से निकलते ही सीढ़ियाँ. फ़्लैट में बाथरूम के सामने नीचे से ऊपर पानी खींचने के लिए चाँपाकल. बरामदे के अंत में जो बेडरूम है, वह बैठकख़ाना और रेणुजी के लिखने पढ़ने के कमरे के रूप में इस्तेमाल होता है। दीवाल पर विधानचंद्र राय और नेहरूजी की तस्वीरें हैं.' *रेणु रचनावली,* 4/463.

आता है, लेकिन विधानचंद्र राय की तस्वीर के औचित्य पर सोचना पड़ता है। सम्भवत: राष्ट्रीय और प्रांतीय नेता के आदर्श की बानगी थी ये तस्वीरें। जो हो, लेकिन अनेक स्तरों पर उनका समाजवादी आंदोलन से मोहभंग जारी था। 1950 में वे नेपाल में राणाशाही के ख़िलाफ़ सशस्त्र विद्रोह में शामिल होते हैं। रेणु ने स्वयं कंधे पर बंदूक़ उठायी। कोई भी इसका जीवंत ब्योरा उनके द्वारा लिखित नेपाली क्रांति कथा में पढ़ सकता है। इसी कथा के आख़िरी हिस्से को पढ़ कर कोई रेणु के राजनीति से मोहभंग की कथा भी जान सकता है। डायरीनुमा रपट में 21 फ़रवरी, 1951 को वे लिखते हैं, 'पूर्णिया ज़िला सोशलिस्ट पार्टी के जनरल सेक्रेटरी नरसिंह नारायण सिंह ने सभी सोशलिस्टों को नेपाल से वापस आने का आदेश दिया है। इसके कारण किसी के लिए भी तकलीफ़देह हो सकते हैं।' लेकिन उस पर यहाँ चर्चा करना विषयांतर होगा। 4 मार्च, 1951, रविवार, जो रेणु की तीसवीं सालगिरह थी, उन्हें सांदाज्यू अर्थात् बीपी कोइराला का पत्र मिलता है। रेणु के पिता और छोटे भाई की मृत्यु एक ही पखवाड़े के भीतर हो गयी है। बीपी का आग्रह है, 'पत्र पाते ही यहाँ आ जाओ। एक बार यहाँ आओ तो सही। फिर न हो तो वापस चले जाना।'[7] लेकिन चाहते हुए भी वे सांदाज्यू को पत्र नहीं लिख पाते। नेपाल की स्थिति पर वह भारत के प्रधानमंत्री को एक पत्र ज़रूर लिखना चाहते हैं। इसका ख़ाका रेणु के शब्दों में ही देखिए, 'प्रधानमंत्री जी! पिछले कई सप्ताह से काठमाण्डो स्थित भारतीय दूतावास में वायरलेस पर होने वाली बातचीत को हम इंटरसेप्ट कर रहे हैं। एक आवाज़ फटी–फटी सी आवाज़ को हमने पहचान लिया है। यह निश्चय ही हमारे राजदूत महोदय की है। बिहारी होने के कारण हम बिहार के खूसट ज़मींदारों की बोली और मुहावरों को अच्छी तरह समझते हैं। अपने को किंगमेकर और किंग्स केयरटेकर मानने वाले इस महानुभाव के तेवर कुटिल और बोली कर्कश सुनाई पड़ने लगी है। भारतीय राजदूत के रूप में नेपाल की सीमा से सटे हुए इलाक़े के इस 'सर' की सारी

---

[7] 'नेपाली क्रांति–कथा', *रेणु रचनावली,* 4/449–50.

रेणु के मन में एक उथल-पुथल चल रही थी। उनकी पार्टी स्वतंत्र समाजवादी उसूलों के साथ बस चार साल (1948-1952) काम कर सकी थी। उन लोगों ने तात्कालिक सफलता के लिए सिद्धांतों का सौदा कर लिया था। इस सिद्धांतहीन पार्टी के साथ रहने का अब क्या अर्थ था! इसी निराशा में उन्होंने स्वयं को साहित्य से पूरी तरह जोड़ लिया। हालाँकि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि अपने लेखन में भी वह राजनीतिक सोच से विलग नहीं हुए। उनकी कृतियों *मैला आँचल, परती-परिकथा* या *जुलूस* में हम उनकी राजनीतिक समझ और सोच को देख सकते हैं। अपने दोनों प्रमुख उपन्यासों *मैला आँचल* और *परती-परिकथा* में वर्णित दो गाँवों मेरीगंज और परानपुर में आज़ाद भारत के ग्रामीण ढाँचे में उभरते राजनीतिक हलचल को उन्होंने जिस बारीकी के साथ देखा-समझा है, वह महत्त्वपूर्ण है। मेरा मानना है इस पर अब तक अपेक्षित कार्य नहीं हुआ है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में रेणु का महत्त्व वही है, जो फ्रांसीसी परिप्रेक्ष्य में अपने समय में बाल्ज़ाक का था।

बिरादरी और भाई-भतीजे नेपाली जनता के भाग्य विधाता बन बैठे हैं। यह फटी हुई आवाज़ बहुत शीघ्र ही नेपाल में भारत विरोधी स्वर को तीव्र कर देगी। महाराजाधिराज को सकुशल देश से बाहर भगा ले जाने और वापस लाने के बाद हमारे राजदूत महोदय अपने को ही महाराजाधिराज मान बैठे हैं। उनको ग़लतफ़हमी हो गयी है कि नेपाल बिहार का एक ज़िला मात्र है। क्या आप भी यही समझते हैं?'[8] उस समय सर की उपाधि धारण करने वाले चंद्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, जो सीपीएन सिंह के नाम से जाने जाते थे, नेपाल के राजदूत थे। रेणु अपने प्रधानमंत्री को बतलाना चाहते हैं कि नौकरशाह की जगह किसी उदार व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति को नेपाल का राजदूत बनाया जाना चाहिए। भारत के राजदूत के कारण विद्रोह विफल हुआ और रेणु स्वाभाविक रूप से इससे दुखी हैं। उनका रोष अपने 'समाजवादी' प्रधानमंत्री पर है, जिनका राजदूत एक बददिमाग़ ज़मींदार है और राजशाही की ख़िदमत में लगा है।

रेणु का मन टूट चुका था, फिर भी 1952 तक समाजवादी पार्टी के कार्यकर्ता के रूप में वह सक्रिय रहे। इसी वर्ष भारत में वयस्क मताधिकार के आधार पर पहला आम चुनाव हुआ था। यह वयस्क मताधिकार एक नयी और कुछ मायने में, बड़ी चीज़ थी, क्योंकि इसके पहले के अंग्रेज़ी ज़माने में 1937 और 1946 में जो चुनाव हुए थे, उसमें सभी बालिगों को वोट का अधिकार नहीं था। लेकिन यह भी था कि नये संविधान द्वारा भारत के नागरिकों को केवल राजनीतिक समानता ही मिली थी आर्थिक और सामाजिक समानता नहीं, जिसकी चर्चा ज़ोर देकर डॉ. आम्बेडकर ने संविधान सभा के आख़िरी महत्त्वपूर्ण वक्तव्य में की थी। नेहरू और दूसरे समाजवादी भी नये संविधान से संतुष्ट नहीं थे। लेकिन इसमें लगातार संशोधन की गुंजाइश थी और इस आधार पर लोगों का सोचना था कि धीरे-धीरे बहुजनों की आकांक्षाएँ इस पर हावी होंगी और आर्थिक-सामाजिक बराबरी भी सुनिश्चित की जा सकेगी। स्वयं समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण इस प्रथम आम चुनाव को लेकर काफ़ी उम्मीद लगाए बैठे थे। बिहार में उन्हें अपनी समाजवादी पार्टी द्वारा प्रांतीय सरकार बना लेने की पूरी उम्मीद थी। देश में एक प्रबल समाजवादी प्रतिपक्ष के गठन का भी स्वप्न था। लेकिन तमाम उम्मीदें धराशायी हो गयीं। समाजवादियों को कहीं कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। देश भर के समाजवादी अवसाद में डूब गये थे। इतने अवसाद में कि उसी वर्ष उन लोगों ने

---

[8] वही.

कुछ ही समय पूर्व कांग्रेस के आलाकमान रहे, दक्षिणपंथी सोच वाले नेता कृपलानी[9] के नेतृत्व में काम कर रही किसान-मजदूर प्रजा पार्टी से विलय कर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन कर लिया। सोशलिस्ट पार्टी अब प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बन गयी थी। कृपलानी ने विलय की शर्त यह रखी थी कि सोशलिस्टों को वर्ग-संघर्ष की नीति छोड़नी होगी। सोशलिस्टों ने छोड़ भी दी। दुखी नरेंद्रदेव ने इसे समाजवाद का बधियाकरण माना और कहा कि वर्ग संघर्ष की नीति त्याग देने के पश्चात् समाजवादियों के पास रह ही क्या जाता है।

नरेंद्रदेव बड़े नेता थे, इसलिए उनकी प्रतिक्रिया हमें उपलब्ध है। रेणु के मन पर क्या गुज़री होगी, इसका अनुमान ही किया जा सकता है। सोशलिस्ट पार्टी के कृपलानी की पार्टी के साथ विलय का मुख्य कारण छुटभैये समाजवादी नेताओं का संसदीय ढाँचों, यानी धारा-सभाओं में येनकेन प्रकारेण आने का उतावलापन ही था। कांग्रेस की तरह ही समाजवादी पार्टी में भी आर्थिक-सामाजिक ढाँचे के ऊपरी तबक़े से आये लोगों का बोलबाला था। उन्हें उम्मीद थी कि कृपलानी की मुहर लगने और वर्गसंघर्ष की नीति-त्याग देने से समाज के मलाईदार तबक़े में उनका विरोध थम जाएगा और चुनावों में उन्हें सफलता मिलने लगेगी। कुछ हद तक यह सफलता बाद में मिली भी, लेकिन बहुत अधिक नहीं। जयप्रकाश नारायण इन सब से बहुत खुश नहीं थे। शायद इसीलिए उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया। रेणु के राजनीतिक गुरु जेपी ही थे। दोनों की मानसिकता बहुत हद तक मिलती-जुलती थी। जेपी में एक छुपा लेखक था और रेणु में एक छुपा राजनीतिक कार्यकर्त्ता। थोड़ा आगे-पीछे जेपी और रेणु दोनों राजनीति से संन्यास ले चुके थे। रेणु पूर्णकालिक लेखक बन गये और जेपी पूरे तौर पर जीवनदानी भूदानी। रेणु का रास्ता निश्चित तौर पर जेपी से बेहतर था। जेपी ने भी रेणु का रास्ता अपनाया होता तो हिंदी को एक और बेहतर लेखक मिला होता।

रेणु के मन में एक उथल-पुथल चल रही थी। उनकी पार्टी स्वतंत्र समाजवादी उसूलों के साथ बस चार साल (1948-1952) काम कर सकी थी। उन लोगों ने तात्कालिक सफलता के लिए सिद्धांतों का सौदा कर लिया था। इस सिद्धांतहीन पार्टी के साथ रहने का अब क्या अर्थ था! इसी निराशा में उन्होंने स्वयं को साहित्य से पूरी तरह जोड़ लिया। हालाँकि उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि अपने लेखन में भी वह राजनीतिक सोच से विलग नहीं हुए। उनकी कृतियों *मैला आँचल, परती-परिकथा* या *जुलूस* में हम उनकी राजनीतिक समझ और सोच को देख सकते हैं। अपने दोनों प्रमुख उपन्यासों *मैला आँचल* और *परती-परिकथा* में वर्णित दो गाँवों मेरीगंज और परानपुर में आज़ाद भारत के ग्रामीण ढाँचे में उभरते राजनीतिक हलचल को उन्होंने जिस बारीकी के साथ देखा-समझा है, वह महत्त्वपूर्ण है। मेरा मानना है इस पर अब तक अपेक्षित कार्य नहीं हुआ है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में रेणु का महत्त्व वही है, जो फ्रांसीसी परिप्रेक्ष्य में अपने समय में बाल्ज़ाक का था। लेकिन यह एक अलग विषय है। मैं अभी रेणु की राजनीति तक सीमित होना चाहूँगा।

## III

यक्ष्मा व्याधि से दूसरी दफ़ा ठीक होने और लतिकाजी के साथ विवाह के बाद रेणु ने पटना में निवास बनाया था। यह 1952 का वर्ष था। उन्होंने कई बार कहा कि वह स्वयं को पटना का नागरिक होने योग्य नहीं समझते। उनका मन गाँव में रमता था। पटना-वास उनके लेखक रूप के लिए अच्छा रहा। उन्होंने इसी समय अपने प्रसिद्ध उपन्यास *मैला आँचल* की रचना की। इसकी

---

[9] जीवतराम भगवानदास कृपलानी (1888-1982), प्रमुख गाँधीवादी नेता, भारत की आज़ादी के समय अर्थात् 1946 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे. बाद में किसान मज़दूर प्रजा पार्टी की स्थापना की. 1952 के आम चुनाव के बाद सोशलिस्ट पार्टी और किसान मज़दूर प्रजा पार्टी का विलय हुआ, फलस्वरूप एक नयी पार्टी प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ.

प्रसिद्धि के बाद उनका गाँव रहना सम्भव नहीं था। *परती-परिकथा* लिखते समय वे इलाहाबाद रहे। दिल्ली, मुम्बई, कोलकाता और दूसरे शहरों में वे जाते रहते थे। भारत की साहित्यिक दुनिया के शीर्षस्थ लोगों में उनकी गिनती होने लगी थी। दूसरे उपन्यास *परती-परिकथा* और प्रथम कथा-संकलन *ठुमरी* के प्रकाशन के बाद हिंदी साहित्याकाश में उनकी स्थिति ध्रुवतारे की तरह की बन गयी थी। रेणु जैसा दूसरा कोई नहीं था। किसी अन्य से उनकी तुलना नहीं हो सकती थी। इस तरह 1955 से 1965 तक का उनका समय लगभग विशुद्ध रूप से लेखकीय रहा। उन्होंने इस बीच राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं ली।

लेकिन 1964 में कम्युनिस्ट पार्टी के विभाजन ने उन्हें एक बार फिर उद्वेलित किया। वे विचलित भी हुए। नेहरू की मृत्यु हो चुकी थी और भारत की दक्षिणपंथी राजनीति अपनी मौज में थी। दरअसल ये समाजवादियों के इकट्ठे होने के दिन होने चाहिए थे; लेकिन हक़ीक़त थी कि वे बिखर रहे थे। इससे भी बड़ी बात जो भारतीय राजनीति में उभर रही थी, वह थी हर पार्टी में कुछ ख़ास होशियार लोगों की बढ़ती तानाशाही। इन सबके कारण थे, जिनका अध्ययन-विश्लेषण राजनीति-विज्ञान का विषय है। लेकिन उसके नतीजे लोकतांत्रिक जीवन को प्रभावित कर रहे थे। राजनीतिक कार्यकर्ताओं की हैसियत लगातार तंग होती जा रही थी। राजनीतिक कार्यकर्ता हमारे सामाजिक जीवन का समूह था, जो लोकतांत्रिक राजनीतिक गतिविधियों के साथ स्वाभाविक रूप से उभरा था, जैसे औद्योगिक क्रांति के साथ-साथ मज़दूर वर्ग। इन राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दशा-दिशा पर हमारे साहित्य में शायद ही कोई चर्चा है। रेणु की रचनाओं में राजनीतिक कार्यकर्त्ता हैं और पूरे दमख़म से हैं। लेकिन, उनकी स्थिति दयनीय होती जा रही है। रेणु इसे एक ट्रेजेडी के रूप में देखते हैं। 1965 में उनकी कहानी आती है 'आत्मसाक्षी'। 1930 के दशक से पार्टी के लिए खँजड़ी बजा-बजा कर प्रचार-कार्य और चंदा उगाहने वाला एक ग्रामीण कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता गनपत अपनी ही पार्टी के अधिकारियों द्वारा बेइज्ज़त किया जा रहा है। पार्टी में उसकी कोई औक़ात नहीं रह गयी है। इस कहानी की तारीफ़ अज्ञेयजी ख़ूब करते थे। जर्मन विद्वान लोठार लुत्से[10] ने इसका अपनी जुबान में अनुवाद किया और इसे केंद्र में रखते हुए रेणु से एक साक्षात्कार भी किया। इस कहानी को कई लोगों ने केवल कम्युनिस्ट पार्टी के एक कार्यकर्त्ता की दयनीयता और एक पार्टी विशेष के आंतरिक संकट के रूप में देखा। लेकिन नहीं, रेणु सभी राजनीतिक दलों में कार्यकर्ताओं की बदहाली को देख चिंतित थे। उनका मानना था यदि राजनीतिक दलों में जनतंत्र सुरक्षित नहीं रहेगा तो देश में भी जनतंत्र सुरक्षित नहीं रह सकता। अपनी सोशलिस्ट पार्टी में ही कालीचरण की स्थिति का बयान वह *मैला आँचल* में कर चुके थे। गाँवों से आये साफ़-सुथरे और क्रांतिचेता युवकों की पार्टी में कोई औक़ात नहीं होती थी। कार्यकर्त्ता यदि पिछड़ी जातियों से आया हुआ है, तब तो और भी बुरी स्थिति होनी थी। रेणु पार्टी के भीतर कथनी और करनी के इस भेद को देख रहे थे।

1970 में *दिनमान*[11] को दिये गये एक साक्षात्कार में, जिसे उसके सम्पादक रघुवीर सहाय ने स्वयं लिया था, रेणु ने विस्तार के साथ राजनीतिक स्थितियों पर चर्चा की है। ध्यातव्य है कि 1969 के वसंत में कम्युनिस्ट पार्टी का एक बार फिर विभाजन हो गया था। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी से टूट कर युवा कम्युनिस्टों का एक धड़ा अलग हो गया था। बंगाल के नक्सलबाड़ी ज़िले में किसानों के संघर्ष को इस धड़े ने न केवल समर्थन दिया बल्कि उसे अपना संघर्ष घोषित कर दिया, जब कि

---

[10] लोठार लुत्से (1927-2015), जर्मन विद्वान और हिंदी अध्येता, फणीश्वरनाथ रेणु की 'आत्मसाक्षी' कहानी का लुत्से ने जर्मन में अनुवाद किया है. उनका रेणु से लिया हुआ साक्षात्कार 'रेणु का आत्म-साक्ष्य' शीर्षक से *नया प्रतीक*, जिसके सम्पादक सच्चिदानंद हीरानंद अज्ञेय थे, के जून, 1976 अंक में प्रकाशित हुआ, अर्थात् रेणु की मृत्यु के बाद. *रेणु रचनावली*-4 में यह संकलित है.

[11] *दिनमान*, 1965 से अज्ञेय के सम्पादन में हिंदी समाचार साप्ताहिक के रूप में आरम्भ हुआ. बाद में रघुवीर सहाय सम्पादक हुए. सातवें और आठवें दशक का महत्त्वपूर्ण और चर्चित समाचार साप्ताहिक.

बुज़ुर्ग कम्युनिस्ट इसे समर्थन देने से इंकार कर रहे थे। नक्सलबाड़ी की देखा-देखी देश के अन्य हिस्सों में भी इस तरह के संघर्ष उभरने लगे। बिहार में समाजवादी से सर्वोदयी हुए जयप्रकाश नारायण ने स्वयं को मुज़फ़्फ़रपुर के पास मुशहरी में ख़ुद को केंद्रित किया और रेणु को एक भावुकतापूर्ण पत्र लिखा। जेपी और रेणु के जीवन में राजनीतिक सक्रियता का यह एक नया रूप था। जेपी सर्वोदय के लिबास में थे और रेणु एक लेखक के। दोनों के पास कोई पार्टी नहीं थी। दल-हीन जनतंत्र का बिरवा सम्भवतः इसी रूप में पनपा।

कवि रघुवीर सहाय[12] के साथ हुई उस महत्त्वपूर्ण बातचीत में, जिसकी चर्चा मैंने ऊपर की है, कई तरह की बातें उभर कर आयी हैं। रघुवीर सहाय भी राजनीतिक चेतना से सम्पन्न कवि थे। उन्होंने *दिनमान* में प्रकाशित इस वार्ता का शीर्षक रखा 'टूटता विश्वास'। इस पूरी बातचीत में रेणु ने अपने ज़िले की भूमि समस्या को केंद्र में रखा है, क्योंकि नक्सलवादी आंदोलन के केंद्र में भूमि समस्या थी। ज़मींदार और बड़े किसान अब हर तरह के भूमि आंदोलन को नक्सलवादी आंदोलन कहने लगे थे। रेणु कहते हैं 'पूर्णिया अँचल के कहानी भूमिहीनों की कहानी है।' उन्होंने अपने इलाक़े के महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, (जो कभी समाजवादी कार्यकर्त्ता थे) नक्षत्र मालाकार[13] को बातचीत के केंद्र में रखा। इस नक्षत्र मालाकार के तीन रूप थे। एक रूप नछत्तर माली का था, जो 1936 से सोशलिस्ट पार्टी का कार्यकर्त्ता था। जेपी ने उसका नाम पूछा तब, उसने बतलाया नछत्तर माली। जेपी ने प्यार भरी झिड़की दी। ये क्या नाम हुआ। आज से आप का नाम हुआ नक्षत्र मालाकार। नछत्तर माली नक्षत्र मालाकार बन गये। सामंतों-ज़मींदारों से मालाकार को काफ़ी चिढ़ थी। शोषण को बर्दाश्त करना उसने नहीं सीखा था। उसने अकाल के समय ज़मींदारों के अन्न भण्डारों पर धावा बोल दिया और अनाज को भूखों में बाँट दिया। उसे लुटेरा घोषित कर दिया गया। इसी पात्र को रेणु ने *मैला आँचल* में चलित्तर कर्मकार के रूप में रखा है। कालीचरण अंततः इसी कर्मकार की तरफ़ बढ़ता है। यही समाज की नियति थी। इस तरह यह कहा जा सकता है कि नक्सलवाद की पगध्वनि को रेणु ने पचास के दशक में ही सुन-समझ लिया था। कथाकार मधुकर सिंह[14] को दिये एक साक्षात्कार में भी रेणु ने प्रसंगवश नक्षत्र मालाकार की विस्तृत चर्चा की है। उनके पूरे वक्तव्य को देखना ही ठीक होगा। 'कुछ वर्षों तक हम साथी रहे। जब-जब राजनीतिक लोगों ने उसे 'राजनीतिक' मानने से इंकार किया और उसको विशुद्ध क्रिमिनल क़रार देने की साज़िश की— हम कई लोगों ने इसका विरोध किया, 1947 से ही। हम कई लोग— जिनमें बंगला के प्रसिद्ध लेखक सतीनाथ भादुड़ी भी थे— पहले पार्टी में उसके निष्कासन के विरुद्ध आवाज़ें उठाते रहे और जब वह पार्टी से निकाल दिया गया और परम स्वतंत्र होकर जब वह अपने जी का करने लगा, उसकी लूट, डकैती, हत्या आदि की कहानियाँ सुन कर हमने लिख कर उसकी निंदा की। किंतु मैं तब भी उसको 'राजनीतिक' मानता रहा। जिस तरह आप, आज उसके बारे में जानना चाहते हैं, तत्कालीन ज़िला पुलिस के अधिकारी और गुप्तचर विभाग वाले भी अक्सर हम से मिल कर नक्षत्र के बारे में ऐसे ही सवाल करते थे। उन्हें जो जवाब देता था, आज भी दे रहा हूँ—' नक्षत्र जनता का आदमी है'। वह गिरफ़्तार हुआ, आजीवन कारावास की सज़ा झेल रहा था। अभी इतना ही कि नक्षत्र मालाकार का मतलब है जन-जीवन की एक ज़बरदस्त छटपटाहट।'[15]

---

[12] रेणु का *दिनमान* में प्रकाशित महत्त्वपूर्ण साक्षात्कार जिसे रघुवीर सहाय ने लिया,' टूटता विश्वास 'शीर्षक से यह *दिनमान* के 3 मई, 1970 के अंक में प्रकाशित हुआ. *रेणु रचनावली,* 4/411 में संकलित.

[13] नक्षत्र मालाकार पूर्णिया ज़िले के प्रमुख सोशलिस्ट और बाद में कम्युनिस्ट नेता थे. फणीश्वरनाथ रेणु ने *मैला आँचल* में इन्हें चलित्तर कर्मकार के रूप में चित्रित किया है.

[14] कथाकार मधुकर सिंह के साक्षात्कार में फणीश्वरनाथ रेणु की कथा, *रेणु रचनावली,* 4/419.

[15] वही.

रेणु ने लोहियावादी समाजवाद से एक दूरी बनाए रखी है। ... लोहिया की जाति नीति उत्तर भारतीय राजनीति में एक नया आवेग था। ... लोहिया विलक्षण नेता थे। प्रखर वक्ता और बेजोड़ संगठनकर्ता। उनकी ख़ासियत यह थी कांग्रेस और नेहरू विरोध में समाजवादियों को उन्होंने इस स्थिति में ला दिया कि वे जनसंघ के निकट आते चले गये। कांग्रेस के अर्ध-दक्षिणपंथ का विरोध करने वाले सोशलिस्ट पूर्ण-दक्षिणपंथियों की गोद में जा बैठे। ... रेणु इस प्रभाव में कभी नहीं आये। यह अकारण नहीं था। वैचारिक रूप से रेणु अधिक प्रौढ़ दीखते हैं। वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोधों को जिस सूक्ष्मता से उन्होंने समझा है, उससे राजनेताओं को सीख लेने की ज़रूरत है। जाति और वर्ण की स्थिति को रेणु नकारते नहीं, स्वीकारते हैं; लेकिन उसे वर्गीय नजरिये से ही देखते हैं। ... लेकिन जाति विषयक चिंतन की कमज़ोरी यह है कि व्यक्ति का आकलन समूह के आधार पर होने लगता है और परिवर्तन की उम्मीदें सिमटने लगती हैं।

इस छटपटाहट को रेणु जिस व्यग्रता से समझ रहे थे, दूसरे नहीं समझ रहे थे। 1970 के आसपास रेणु ने कई बार अपने इलाक़े की भूमि समस्या को उठाया। *दिनमान* में जब रिपोर्टिंग करते थे, तब भी इस समस्या पर सांकेतिक रूप से लिखा। 1966 के भीषण सूखे की उन्होंने रिपोर्टिंग की। उससे जनित अकाल को देखा-समझा था। उन्हें कुछ आभास हो रहा था। 22 नवम्बर, 1971 को उनके पूर्णिया ज़िले के धमदाहा थानांतर्गत रूपसपुर चंदवा गाँव में ज़मींदारों ने इकठ्ठा हो कर एक साथ चौदह आदिवासियों की हत्या कर दी। यह बिहार का पहला नरसंहार था। कांग्रेस पार्टी के नेता और तत्कालीन विधानसभाध्यक्ष और हिंदी लेखक लक्ष्मीनारायण सुधांशु के नेतृत्व में यह कुकृत्य हुआ था। समाजवादी नेता कर्पूरी ठाकुर ने पूरे राज्य में इसके ख़िलाफ़ आंदोलन छेड़ दिया। मजबूर होकर तत्कालीन भोला पासवान शास्त्री सरकार को दिग्गज नेता लक्ष्मीनारायण सुधांशु की गिरफ़्तारी सुनिश्चित करनी पड़ी।[16] जिस आशंका की ओर रेणु बार-बार संकेत कर रहे थे, वह प्रकट हो चुका था।

इन सब कारणों से रेणु की निराशा बढ़ने लगी थी। राजनीतिक दलों पर से उनका विश्वास उठने लगा था। ऐसा लगता है उनका समाजवादी बुख़ार भी थोड़ा उतर गया था। लेकिन उनके मन में आमजन की पीड़ा घनीभूत होती जा रही थी। कोई बीस साल के अंतराल के बाद एक बार फिर वह सामने आते हैं। 1972 में उन्होंने संसदीय राजनीति में स्वयं को सक्रिय किया। उन्होंने बिहार विधानसभा का निर्दलीय चुनाव लड़ा। उन्हें भी अपने नेता जेपी की तरह चुनाव जीतने की उम्मीद थी। यह उनके पत्रों और साक्षात्कारों से पता चलता है। लेकिन वे बुरी तरह पराजित हुए। इस पराजय के बाद वर्तमान संसदीय ढाँचे से वह नाउम्मीद हो चुके थे। इसी बीच गुजरात में नवनिर्माण आंदोलन हुआ और जेपी ने 'यूथ फॉर डेमॉक्रैसी' शीर्षक से गुजरात के युवकों के नाम खुला पत्र लिखा।[17] कुछ ही महीनों बाद बिहार के छात्रों ने जब भ्रष्टाचार के विरुद्ध और शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन के लिए आंदोलन शुरू किया, तो जेपी ने अपने संन्यास का परित्याग किया और उसे समर्थन की घोषणा की। आंदोलन तेज़ी से बढ़ गया, क्योंकि देश-समाज की सामाजिक-आर्थिक स्थिति विषम हो गयी थी और जिस राजनीतिक दख़ल की अपेक्षा थी, वह कहीं दिख नहीं रही थी। लोग एक राजनीतिक हस्तक्षेप का इंतज़ार कर रहे थे, लेकिन राजनीतिक दल

---

[16] प्रेमकुमार मणि (2008) : 30.

[17] जयप्रकाश नारायण का गुजरात के आंदोलनकारी छात्रों के नाम खुला पत्र, 1973 में.

अपने ही अंतर्कलह, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, से निरंतर निष्क्रिय और क्षरणशील हो रहे थे। ऐसे में जेपी के हस्तक्षेप से लोकतांत्रिक राजनीतिक जीवन में लोगों को उम्मीद की एक किरण दिखी।

रेणु मानो इंतज़ार ही कर रहे थे। वे एक बार फिर सक्रिय हुए। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन में उन्होंने भागीदारी की। जेल भी गये। इस आंदोलन को एक बात के लिए तो याद किया ही जाएगा कि बड़े पैमाने पर युवकों को इस ने राजनीतिक कर्म के लिए प्रेरित किया। जिस तरह उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय आंदोलन में बीस के दशक में छात्रों ने पढ़ाई छोड़ कर भागीदारी की थी, एक बार फिर राजनीति में हस्तक्षेप किया। यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। जैसा कि सब जानते हैं किस तरह देश में आपातकाल घोषित किया गया और लोकतंत्र की चूलें हिल गयीं। दुनिया के अनेक देशों में जनतंत्र के कुचले जाने के समाचार आ रहे थे। चिली में साल्वादोर अलेंदे[18], या बगल के बांग्लादेश में ही शेख़ मुज़ीबुर्रहमान[19] की निर्मम हत्या से अनेक लोकतंत्र प्रेमियों को लगा कि क्या भारत में भी जनतंत्र के दिन गिने-चुने हैं? समाजवादी स्वप्न और कार्यक्रम नेपथ्य में चले गये। लोकतंत्र रहेगा या नहीं रहेगा का प्रश्न तेज़ी से प्रमुख हो गया। उन्नीस महीनों की इमरजेंसी के बाद जब देश में लोकसभा चुनावों की घोषणा हुई तब कई अंतर्विरोधों और मलबे के ऊपर एक पार्टी का गठन होता है। दलहीनता की वकालत करने वाले जेपी इसके पुरोहित बनते हैं। 1977 में जब लोकसभा के चुनाव हुए तब जेपी की राजनीति को सफलता हासिल हुई। चुनाव के नतीजे आते ही रेणु अपने ऑपरेशन के लिए अस्पताल में भर्ती हुए और फिर नहीं लौटे। 11 अप्रैल, 1977 को उन्होंने हमेशा के लिए इस दुनिया से विदा ले ली।

रेणु यदि कुछ समय और जीवित होते तो क्या करते, या जेपी के सपनों के एक बार फिर टूटने पर उनकी क्या प्रतिक्रिया होती, इसकी कल्पना शायद बेमानी है। जेपी को निराशा हाथ लगी, रेणु भी निराश होते। इससे अधिक कुछ नहीं होता। इससे अधिक हो भी क्या सकता था। लेकिन इन सबके बावजूद यही उम्मीद की जाती है कि अपने संक्षिप्त राजनीतिक हस्तक्षेप का उन्हें कोई अफ़सोस नहीं, बल्कि आत्मसंतोष होता। इस हस्तक्षेप के बग़ैर रेणु नहीं रह सकते थे। संन्यास एक अलग चीज़ है और तटस्थता कुछ अलग। संन्यास में त्याग या परित्याग अंतर्निहित है, लेकिन तटस्थता कायरता का एक रूप है। कवि दिनकर की यह पंक्ति 'जो तटस्थ हैं, समय लिखेगा उनका भी अपराध' उनके मन में गूँजती थी। दो स्थितियाँ थीं— या तो इतिहास का हिस्सा बनना था, या फिर अपराध का। स्वाभाविक था उन्होंने पहले का हिस्सा बनना चाहा। बने।

रेणु की राजनीतिक चेतना के एक और वैशिष्ट्य पर बात किये बिना इस लेख को समाप्त करना ठीक नहीं होगा। इस बात पर कम लोगों की नज़र गयी है कि रेणु ने लोहियावादी समाजवाद से एक दूरी बनाए रखी है। बिहार और उनके कोसी इलाक़े में 1960 के दशक में राममनोहर लोहिया की सोशलिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ने लगा था। 1964 में प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के एक धड़े से जुड़ कर सोशलिस्ट पार्टी संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बन गयी, जिसे संक्षेप में संसोपा कहा जाता था। इस समाजवादी

---

[18] साल्वादोर अलेंदे (1908-1973) लैटिन अमेरिकी देश चिली के सोशलिस्ट नेता. पेशे से मेडिकल डॉक्टर रहे अलेंदे अपने देश में ख़ूब लोकप्रिय थे. नवम्बर, 1970 में चिली के राष्ट्रपति चुने गये, 1973 के 11 सितम्बर को सेना की एक टुकड़ी ने विद्रोह कर दिया और उनके आवास को घेर लिया. अलेंदे ने समर्पण करने से इंकार किया और ख़ुद को गोली मार ली, ऐसा बताया गया. इसके पीछे अमेरिकी साज़िश की बात कही गयी.

[19] शेख़ मुज़ीबुर्रहमान (1920-1975), पूर्वी पाकिस्तान के क़द्दावर नेता, अवामी लीग के मुखिया. संयुक्त पाकिस्तान में 1971 में हुए चुनाव में इनकी पार्टी अवामी लीग सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभर कर आयी. पाकिस्तानी राष्ट्रपति याह्या ख़ान और प्रधानमंत्री ज़ुल्फ़िकार अली भुट्टो ने उन्हें सत्ता सौंपने से इंकार किया. पूर्वी पाकिस्तान में विद्रोह हो गया, जिसे दबाने के नाम पर वहाँ भयानक दमन किया गया. भारत के सैनिक हस्तक्षेप के बाद पूर्वी पाकिस्तान बांग्लादेश के रूप में एक स्वतंत्र देश के रूप में उभरा और शेख़ राष्ट्रपति हुए. 15 अगस्त, 1975 को सेना की एक टुकड़ी ने विद्रोह किया और शेख़ मुज़ीब, उनके तीन बेटों और पत्नी की हत्या कर दी. इस समय भारत में इमरजेंसी लगी हुई थी.

धड़े ने एक नारा दिया 'संसोपा ने बाँधी गाँठ; पिछड़ा पावें सौ में साठ'। इसे राममनोहर लोहिया की जाति-नीति कहा गया। लोहिया की जाति नीति उत्तर भारतीय राजनीति में एक नया आवेग था। दक्षिण भारत और महाराष्ट्रीय राजनीति में पेरियार रामास्वामी (1879-1973) और डॉ. भीमराव आम्बेडकर (1891-1956) ने 1930 के दशक में ही आधुनिक संसदीय राजनीति अर्थात् लोकतंत्र और जातितंत्र के अंतर्विरोधों को देखा था और इसे विमर्श का बिंदु बनाने की कोशिश की थी। लेकिन साठ के दशक में तनिक भिन्न ढंग से लोहिया ने इसे अपने समाजवादी मंच से रखा। लोहिया विलक्षण नेता थे। प्रखर वक्ता और बेजोड़ संगठनकर्ता। उनकी ख़ासियत यह थी कांग्रेस और नेहरू विरोध में समाजवादियों को उन्होंने इस स्थिति में ला दिया कि वे जनसंघ के निकट आते चले गये। कांग्रेस के अर्ध-दक्षिणपंथ का विरोध करने वाले सोशलिस्ट पूर्ण-दक्षिणपंथियों की गोद में जा बैठे। उनकी जाति-नीति का दोयम दर्जे के सोशलिस्टों ने खूब प्रचार किया। उल्लेखनीय यह है कि रेणु इस प्रभाव में कभी नहीं आये। यह अकारण नहीं था। वैचारिक रूप से रेणु अधिक प्रौढ़ दीखते हैं। वर्ण और वर्ग के अंतर्विरोधों को जिस सूक्ष्मता से उन्होंने समझा है, उस से राजनेताओं को सीख लेने की ज़रूरत है। जाति और वर्ण की स्थिति को रेणु नकारते नहीं, स्वीकारते हैं; लेकिन उसे वर्गीय नजरिये से ही देखते हैं। लोहिया वर्गीय नज़रिये की उपेक्षा करने लगे थे और इससे चीज़ें काफ़ी उलझ जा रही थीं। लोहिया भी जाति और वर्ग के अंतर्संबंधों पर विचार करते हैं और जाति को स्थिर वर्ग और वर्ग को चलायमान जाति कहते हैं। लेकिन जाति विषयक चिंतन की कमज़ोरी यह है कि व्यक्ति का आकलन समूह के आधार पर होने लगता है और परिवर्तन की उम्मीदें सिमटने लगती हैं। लोहिया में वर्गीय दृष्टिकोण के प्रति उत्साह अन्य समाजवादी नेताओं की अपेक्षा कम परिलक्षित होता है। कृपलानी की पार्टी से समझौते और उनके द्वारा वर्ग संघर्ष की नीति के परित्याग पर लोहिया ने कोई नाराज़गी प्रकट की हो, ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं है। लोहिया की मृत्यु के बाद संसोपा के लोगों ने कुलक किसान नेता चरण सिंह की राजनीति के साथ समझौता कर जातियों के जोड़- तोड़ की एक राजनीति विकसित की। वर्ग संघर्ष की नीति के त्याग ने राजनीतिक चरित्र को भी प्रभावित किया। समाजवादियों ने भूमि सुधारों के कार्यक्रमों से अपनी दूरी बना ली। उद्योगों के विकास पर ज़ोर देने की जगह ग्राम-उद्धार पर ज़ोर उनका मूल कार्यक्रम हो गया। चरण सिंह ने समाजवादियों का दूसरी बार बधियाकरण कर दिया था, इस बार उनकी चेतना का बधियाकरण हुआ था।

रेणु की सोच अलग है। वह भूमि समस्या पर हमेशा ज़ोर देते रहे। वर्ग और वर्ण के अंतर्संबंधों को वह बखूबी समझते थे। *मैला आँचल* में आपस में उलझते राजपूत और यादव टोले को भी उन्होंने देखा और संथाल आदिवासियों के ख़िलाफ़ एक साथ जुड़ते भी देखा। उनके उपन्यास *परती-परिकथा* में सवर्ण जाति से आने वाला सुवंस गाँव के ही दलित परिवार की युवती मलारी से प्रेम करता है। लेकिन वे गाँव में एक साथ नहीं रह सकते। उन्हें गाँव छोड़ना पड़ता है। दूसरी तरफ़ जित्तन उसी गाँव में ताजमनी के साथ रह सकता है। यह क्यों और कैसे सम्भव होता है? जित्तन और सुवंस दोनों तथाकथित ऊँची जातियों से हैं। लेकिन अंतर यह है कि जित्तन ज़मींदार है, जब कि सुवंस की कोई उल्लेखनीय आर्थिक हैसियत नहीं है। दोनों का वर्ण एक है, लेकिन वर्ग एक नहीं है। जित्तन गाँव में ही रह कर ताजमनी से प्रेम कर सकता है, सुवंस नहीं कर सकता। वर्ग की ताक़त वर्ण से अधिक है। यह रेणु की राजनीतिक समझ है, जिसे लोहिया समझने में विफल हो जाते हैं। रेणु यह भी जानते हैं कि भारत औद्योगिक देश नहीं है, कृषि प्रधान देश है। उत्पादन का सबसे बड़ा साधन यहाँ आज भी खेत है, भूमि है। इसलिए भारत में वर्ग-संघर्ष का पहला पाठ सिर के बल खड़े भूमि-संबंधों को पैर के बल खड़ा करना है, भूमि को उन लोगों के अधिकार में लाना है जो उस पर मेहनत करते हैं।

# IV

हिंदी साहित्य में अनेक लेखक हुए जिनके राजनीतिक सरोकार थे। राष्ट्रीय आंदोलन में तो कई ऐसे लेखक हुए, जिन्होंने जेल की सज़ा भी भुगती। जैनेंद्र कुमार जेल गये, अज्ञेय गये, यशपाल, माखनलाल चतुर्वेदी ने भी क़ैद की सज़ा पायी। इन सब की सूची बहुत लम्बी हो सकती है। आज़ादी के बाद भी अनेक ऐसे लेखक हुए जिनके खुले राजनीतिक सरोकार थे। मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह जैसे लोग कुछ समय तक कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य रहे। राहुलजी तो कम्युनिस्ट पार्टी से निकाले गये और फिर शामिल कर लिए गये। हाल तक अनेक प्रगतिवादी लेखक-कवि किसी न किसी कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े थे। इसमें कोई बुराई भी नहीं है।

लेकिन रेणु की राजनीतिक सक्रियता या सम्बद्धता और दूसरों की सक्रियता-सम्बद्धता में एक फ़र्क़ है। इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। रेणु ने अपने साहित्य को जिस तरह अपनी सोच का भागीदार बनाया है, दूसरा कोई हिंदी लेखक नहीं कर सका। अन्य लेखकों के यहाँ पात्र राजनीतिकृत भले हों, राजनीतिक कार्यकर्त्ता पात्र रूप में बहुत कम हैं, या नहीं हैं। रेणु के दोनों प्रमुख उपन्यासों के केंद्रीय चरित्र गाँव (*मैला आँचल* का मेरीगंज और *परती-परिकथा* का परानपुर) राजनीतिक हलचलों के जिस तरह विश्वसनीय केंद्र बनते हैं, उसे देख आश्चर्य होता है। युरोपीय विचारकों, ख़ास कर कार्ल मार्क्स (1818-1883 ) की उद्घोषणा थी कि ये काव्यमयी ग्रामीण बस्तियाँ ही पूरब की निरंकुशता (ओरिएंटल डिस्पॉटिज़्म) का आधार हैं और इनके होते वहाँ लोकतंत्र ढंग से विकसित नहीं हो सकता। रेणु ने अपनी रचनाओं द्वारा यह बताया कि भारत जैसे देश में बारहों बरन से घिरे परिवेश में भी लोकतंत्र तेज़ी से विकसित होगा। लोकतंत्र के संस्कार जनता में अंतर्निहित हैं। गाँव उतने सुस्त और काहिल नहीं हैं, जितना कार्ल मार्क्स और दूसरे युरोपीय मानते हैं। अपनी आर्थिक दरिद्रता के बीच भी हाशिये के लोग प्रगतिशील सोच रखते हैं। आख़िर इन्हीं लोगों ने किसी समय बुद्ध और कबीर को महान् बनाया था। रेणु के उपन्यास का कबीर मठ उसी मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की याद दिलाता है, जो किसान और दस्तकार तबक़ों का सब से बड़ा और उल्लेखनीय वैचारिक-सांस्कृतिक आंदोलन था। हिंदी कवि मुक्तिबोध ने अपने एक लेख में बताया है कि जब इन्हीं जातियों से मध्यकाल में इतनी संख्या में संत और कवि निकल सकते हैं, तो आज राजनीतिक नेता क्यों नहीं निकल सकते। मुक्तिबोध ने यह बात 1955 में लिखी है।[20] उसके पूर्व रेणु *मैला आँचल* में इसी बात को अधिक स्पष्टता के साथ रख चुके थे। मुक्तिबोध को अपने ज़माने में इन उत्पीड़ित सामाजिक समूहों से राजनीतिक कार्यकर्त्ता निकलते हुए नहीं दिखे; रेणु को दिखे। यह महत्त्वपूर्ण है।

यही नहीं, अधिकतर कम्युनिस्ट लेखकों ने अपने दल या उसकी रीति-नीति पर अपने लेखन में कोई सवाल नहीं उठाए। अपनी पार्टी के अंतर्विरोधों और पाखण्डों का पर्दाफ़ाश नहीं किया। निर्मल वर्मा जैसे लेखक भी हुए, जो मार्क्सवाद से सीधे दक्षिणपंथी भगवा-अखाड़े में कूद गये। बहुत ऐसे लेखक हुए जिन्होंने पद-प्रतिष्ठा-पुरस्कार हासिल करने तक मार्क्सवादी ख़ेमे का इस्तेमाल किया और जब उनका स्वार्थ पूरा हो गया तो अपनी स्वाभाविक जमात में शामिल हो गये। कुछ ने इसे अभिनव ज्ञान की प्राप्ति के रूप में लिया।

रेणु ने सक्रिय राजनीति से संन्यास लेने के बाद भी समाजवादी सोच और आदर्शों को नहीं छोड़ा। उन्होंने अपने गुरु जेपी का भी अनुकरण नहीं किया। उन्होंने अपने गुरु के सही राह पर आने का इंतज़ार किया। अवसाद के क्षणों में या बांग्ला संस्कृति के प्रभाव में उन्होंने वाममार्गी औघड़पंथ

---

[20] गजानन माधव मुक्तिबोध का एक लेख 'मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का एक पहलू'. यह लेख 1955 में लिखा गया. मुक्तिबोध रचनावली (1985), 5/288, राजकमल पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण, नयी दिल्ली. 'जब इन्हीं (निम्न) जातियों से पुराने ज़माने में संत आ सकते थे, आगे चल कर सेनाध्यक्ष निकल सकते थे, तो अब राजनीतिक विचारक और नेता क्यों नहीं निकल सकते?'

में रुचि ली। लेकिन इसे छुपाने की ज़रूरत उन्हें महसूस नहीं हुई। अपने एक साक्षात्कार में उन्होंने वाममार्गियों (औघड़ी संस्कृति) के समतावादी चरित्र और वर्णवाद के प्रति उनके स्पष्ट विरोध को रेखांकित किया है। अपने लेखन में भी उन मूल्यों की हमेशा हिफ़ाज़त की जिन मूल्यों के लिए वह राजनीतिक संघर्ष कर रहे थे। भूमिहीन किसान, कारीगर-दस्तकार, स्त्रियाँ, आवारा बच्चे, हर तरह के सामाजिक पाखण्ड से जूझ रहे सामाजिक कार्यकर्त्ता, अपनी ही पार्टी के भीतर लोकतांत्रिक मूल्यों के लिए लड़ रहे राजनीतिक कार्यकर्त्ता और लछमिन कोठारिन, वामनदास और प्रशांत जैसे निष्कलुष-निर्जात (डिकास्ट) चरित्र हिंदी साहित्य में केवल रेणु के ही यहाँ क्यों हैं? इस पर किसी ने सोचा है?

रेणु का अनुकरण करने की कोशिश कुछ लोगों ने की है। लेकिन वे विफल हुए हैं। उनका अनुकरण करने के लिए आवश्यक है कि राजनीतिक मिथ्याचार और सामाजिक अवगुंठन को कोई उस तरह समझे, जिस तरह रेणु ने समझा है। रेणु न अपनी आंचलिकता में हैं, न अपनी भाषा के राग-विराग में। यह सब उनका बाह्य है, उनका असली स्वरूप उनकी चेतना में है और इसे समझना मुश्किल इसलिए है कि यह थोड़ा जटिल है। नागार्जुन की कविताओं में राजनीति है; और उनका एक उपन्यास *बलचनमा* भूमि समस्या पर ही केंद्रित है। लेकिन यह वास्तविकता है कि नागार्जुन राजनीति के मिथ्याचार को उस बारीकी से नहीं देख पाते, जिस तरह रेणु देखते हैं। रेणु ने भी संथाल किसानों के साथ दूसरे लोगों के संघर्ष को चित्रित किया है। *मैला आँचल* के मेरीगंज में सिपहिया टोला के राजपूत और ग्वार टोले के यादव आपस में लड़ते रहते हैं। कायस्थ बिसनाथ प्रसाद भी इन्हीं के बीच डोलते रहते हैं; लेकिन जैसे ही आदिवासी संथालों से लड़ने का प्रश्न उठता है, राजपूत, यादव और कायस्थ इकट्ठा हो जाते हैं। आदिवासियों के प्रति हमदर्दी रखने वाला केवल डॉ. प्रशांत होता है। रेणु के इस सामाजिक विभाजन को समझना बहुत आसान नहीं है। नागार्जुन के यहाँ राजनीतिक ब्योरे हैं, परिदृश्य भी है, लेकिन वह समझ नहीं है, जो रेणु के यहाँ है। नागार्जुन और अन्य कई प्रगतिवादी लेखक राजनीति के केवल बाह्य को देख पाते हैं। उसके अंदरूनी परतों और अवगुंठनों को देखना हो तो रेणु के अलावा बहुत कम उदाहरण मिलेंगे। यह दुर्भाग्यपूर्ण रहा कि बहुत कम मार्क्सवादी लेखकों ने यथार्थवादी स्तर पर गाँवों की सामाजिक आर्थिक स्थितियों की विवेचना की। यदि की भी तो प्रभावकारी अंदाज़ में नहीं। इसलिए रेणु की परम्परा को विकसित करना आज भी एक चुनौती है।

## संदर्भ

आचार्य नरेंद्रदेव (2002), *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, दूसरा संस्करण, नेशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली.
जयप्रकाश नारायण का गुजरात के आंदोलनकारी छात्रों के नाम खुला पत्र, 1973 में.
प्रेमकुमार मणि (2008), खूनी खेल के इर्द-गिर्द, प्रथम संस्करण, विद्यार्थी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
*मुक्तिबोध रचनावली* (1985), पाँचवाँ खण्ड, राजकमल पेपरबैक्स, प्रथम संस्करण, नयी दिल्ली.
*रेणु रचनावली* (1995), चौथा और पाँचवाँ खण्ड, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

# बीच बहस में सेकुलरवाद

संपादक : अभय कुमार दुबे

आशिस नंदी, त्रिलोकी नाथ मदन, पार्थ चटर्जी, जवीद आलम, राजीव भार्गव, मधु किश्वर, धीरूभाई शेठ, रजनी कोठारी, रवि एस. वासुदेवन और अभय कुमार दुबे की रचनाएँ